P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-9*(Part-2) May- 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

हिन्दुस्तानी संगीत में राग का संकल्पः स्वरों की वक्रता के विशेष संदर्भ में

तेजिंदर कौर
शोधार्थी,
संगीत विभाग,
पंजाबी विश्वविद्यालय,
पटियाला, पंजाब, भारत

सारांश

स्वरों एवं वर्णों से सजी रंजक ध्वनि को राग कहते हैं। हिन्दुस्तानी संगीत के रागों में स्वरों एवं वर्णों की सहायता से राग के चलन का निर्माण होता है, जो स्वरों के विशिष्ट लगाव पर अश्रित होता है। रागों के चलन में स्वरों का वक्रत्व भी दृष्टिगत होता है, जो राग के व्यक्तित्व–निर्माण में तथा सौंदर्य वृद्धि में विशिष्ट भूमिका अदा करता है। स्वरों का वक्रत्व मूल रूप से संचारी वर्ण पर निर्भर करता है। गौर करने योग्य है कि संचारी वर्ण अपने आप में एक वक्र वर्ण है। रागों में प्रयुक्त स्वरों का ऐसा वक्रत्व भिन्न–भिन्न प्रमाणों तथा संदर्भों में दृष्टिगत होता है, जिनका विश्लेषणात्मक अध्ययन कर, उदाहरणों सहित इस शोध पत्र में दिया गया है।

मुख्य शब्द : हिन्दुस्तानी संगीत, राग, चलन, संचारी वर्ण, वक्र स्वर, वक्रजाति इत्यादि।

प्रस्तावना

विशेष व्यक्तित्व को धारण किए हुए 'राग' हिन्दुस्तानी संगीत का आधार है, यह तथ्य सर्वव्यापक है। राग नियमों में बंधी ऐसी स्वर रचना है, जो विभिन्न भावनाओं को व्यक्त करने में सक्षम है। रागों में स्वर, वर्णों की सहायता से किसी विशेष चलन के द्वारा इस प्रकार प्रवाहित होते हैं कि प्रत्येक बार एक नया रंग बिखेरते नज़र आते हैं। राग की विशेषता रही है, कि स्नातनी तत्वों को संभालते हुए, नवीन तत्वों को अपने में समाकर यह सदा प्रवाहित रहते हैं। यह नवीनता, परिवर्तन एवं प्रगति के परिणाम की ऊपज है, जो सौंदर्य की दृष्टि से स्वतः ही प्रकट होती रहती है। राग में स्वरों की वक्रता के भिन्न–भिन्न पैमानों के बारे में चर्चा करने से पूर्व राग का संकल्प जान लेना अनिवार्य है।

रागः पारिभाषिक विवेचन

प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक राग की जितनी भी परिभाषाएं मिलती हैं, उन सब का निष्कर्ष यही निकलता है कि केवल वह धुन जिसमें विशेष स्वर, वर्ण, रंजकता इन तीनों तत्वों का आधार हो, राग की संज्ञा पाने के योग्य है। राग के यह प्रमुख सिद्धांत हैं, जो राग को उसका आकार, चलन अथवा निराला रूप प्रदान करते हैं। 'राग' को हिन्दुस्तानी संगीत का आधार कहा जाता है, जो हिन्दुस्तानी संगीत का प्रतिनिधित्व करता है। इस तथ्य के पीछे एक और कारण यह भी दृष्टिगत होता है कि हिन्दुस्तानी संगीत की प्रत्येक गायन विधा में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में राग दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए हिन्दुस्तानी संगीत को रागदारी संगीत भी कहा जाता है।

राग की व्याख्या विमलकांत राय चौधरी अपनी पुस्तक में इस प्रकार करते हैंः–

''राग एक ऐसी रचना है जो पूर्णतः स्वरों के निश्चित विन्यास पर निर्भर है, जो एक क्रम से ध्वनित होते हैं।''[1]

उपर्युक्त व्याख्या को आगे उदाहरण सहित समझाने का प्रयत्न भी किया गया है।

'''स ग प' को यदि सम ध्वनित किया जाये तो वह पश्चिमी हार्मोनिक संगीत का मेजर कॉर्ड होगा, किन्तु यदि इसे क्रमिक रूप से ध्वनित किया जाये तो यह राग शंकरा की एक स्वर–संगति अथवा पद–विन्यास होगा। संवाद–सिद्धान्त (Harmonic) और स्वर–संक्रम (Melodic) संगीत में यही अन्तर है, किन्तु सभी स्वर–संक्रम राग नहीं हैं।''[2] उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि राग निर्माण के विशेष नियम होते हैं, जिनका पालन करने पर ही राग का कोई आकार बनता है।

राग का संकल्प

'राग' पर यदि विचार किया जाए तो यह तथ्य सामने आता है कि सभी राग कुछ समान एवं साधारण लक्षण रखते हैं, जिसके अंतर्गत वादी–संवादी, जाति, न्यास के स्वर, आरोह, अवरोह इत्यादि प्रदान किये जाते हैं और उनके अंतर्गत बंदिशें, आलाप, तानें इत्यादि का गायन किया जाता है। इस साधारण स्वरूप के साथ–साथ राग विशिष्ट स्वरूप भी धारण करते हैं, जो राग को एक दूसरे से स्वतंत्र रूप प्रदान करने में विशेष भूमिका निभाते हैं। जैसे कि हम जानते हैं कि हिन्दुस्तानी संगीत में राग केवल पाँच, छः व सात स्वरों का क्रमानुसार उच्चारण नहीं है। हमारे रागों में स्वरों का विविध स्थान है, उनकी विविध गति व विविध प्रकार का प्रयोग है। हमारे रागों का एक सप्तक (Scale) जरूर है, परंतु उस सप्तक एवं राग में बड़ा अंतर है।

जब किसी राग विशेष का चलन बनता है तो उस में कुछ स्वरों को नियमों के अनुसार वर्जित कर, किसी स्वर को अन्य स्वर की सहायता से, किसी स्वर को थोड़ा घुमा कर लिया जाता है। राग के वादी–संवादी अथवा अल्पत्व–बहुत्व इत्यादि लक्षण, जो राग की सौंदर्य स्थापती में ज़रूरी तत्व हैं, इस बात को स्पष्ट करते हैं कि रागों में सभी स्वरों का समान स्थान नहीं है। इस संदर्भ में प्रदीप कुमार सेनगुप्ता लिखते हैंः–

''स्वरों के विस्तारक्रम में स्वरों की एक निश्चित संरचना होती है, जो विशिष्ट प्रकार के संतुलन, एकसारता एवं अनुपात को प्रदर्शित करती है। अधिकतर रागों में स्वरों के चलन में विशिष्ट प्रकार की विलक्षणता देखने को मिलती है। चाहे वह एक स्वर की हो या फिर दो या तीन स्वरों के समूह की। यह राग के भाव व अभिव्यक्ति को दर्शाने की प्रवृति के अनुसार होता है।''[3]

इसलिए शुद्ध एवं विकृत कुल मिलाकर 12 स्वरों पर अनगिनत रागों का सृजन हो सकता है।

वक्र स्वर

वक्र स्वर का भावार्थ टेढ़ा, मुड़ा हुआ अर्थात् असीधा स्वर, भाव जो सरल रूप में प्रयुक्त न होकर कुछ जटिल रूप में प्रयुक्त हो। ''आरोह एवं अवरोह करते समय जब किसी एक स्वर पर जा कर फिर पिछले स्वर से मुड़कर अगले स्वर पर जाया जाता है तो जिस स्वर से मुड़ते हैं, उसको वक्र स्वर कहते हैं।''[4] यह क्रिया आरोह व अवरोह दोनों में हो सकती है। इसके अतिरिक्त स्वरों के दोहराव की क्रिया में भी स्वरों को वक्र गति प्राप्त होती है। इस क्रिया में जिन दो स्वरों का दोहराव होता है, उनमें से जिस स्वर से पहली बार मुड़ा जाता है वह वक्र कहलाता है जैसे– 'प ध नि ध नि सं' स्वर संगति में पहले 'निषाद' से वापिस 'धैवत' की ओर मुड़ कर फिर 'नि स' लिया गया है। इस स्थिति में पहले 'निषाद' का वक्रत्व है।

अमल दास शर्मा के अनुसार

''आरोह या अवरोह में जो स्वर सरल रूप से प्रयुक्त नहीं होता, उसे वक्र स्वर कहते हैं। जैसे 'प ध नि ध सां' या 'ग म रे ग सा' यहाँ आरोह में 'निषाद' एवं अवरोह में 'ऋषभ' वक्र रूप में प्रयोग किया गया है।''[5]

वक्र स्वर का संकल्प

स्वर एवं वर्ण राग के प्रमुख अवयव हैं। सभी रागों में स्वरों का विशिष्ट स्थान, गति, व लगाव होता है। इसी स्वर लगाव के कारण प्रत्येक राग विलक्षण रूप ग्रहण करता है। इस स्वर लगाव में बहुत से तत्व सहायक होते हैं, जैसे– अंलकारिक स्वर, कण, मींड, खटका, स्वरों का क्रम, आरोह/अवरोह इत्यादि। इसी प्रकार रागों में स्वरों का वक्रत्व राग के स्वरूप निर्माण में सहायक होता है। स्वरों के वक्रत्व की मात्रा भिन्न–भिन्न हो सकती है, जो राग के चलन निर्माण में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। यद्यपि यह कहा जाए कि राग के चलन व विस्तार में कुछ स्वरों को घुमाकर लेना, अनिवार्य प्रतीत होता है, जिस से राग का विस्तार सम्भव हो पाता है, तथापि यह गलत न होगा। प्रत्येक स्वर को बढ़त के समय भिन्न–भिन्न प्रकार से लेना स्वरों के वक्र प्रयोग से ही सम्भव हो पाता है। जैसे राग रागेशवरी में 'मध्यम' स्वर की बढ़त के समय 1) 'स ग म ... ग ध म...' स्वर संगति में 'मध्यम' से मुड़कर 'गंधार' लगाकर 'धैवत' स्वर लगाया गया है, इस स्थिति में 'मध्यम' वक्र हो जाता है, 2) 'स ग ... स म...' इसमें 'गंधार' का वक्र प्रयोग हुआ है, 3) 'म... ग म रे स' में 'गंधार' का वक्र प्रयोग हुआ है, 4) 'ध म... ध ग म...' स्वर संगति में 'मध्यम' का वक्रत्व दृष्टिगत होता है। इसी प्रकार और स्वर संगतियों में भी स्वरों का वक्र प्रयोग देखने को मिलता है। ऐसा नहीं कि प्रत्येक बार वक्र स्वर या वक्र स्वर संगति का प्रयोग किया जाता है, परंतु बहुत बार स्वरों का वक्र प्रयोग दृष्टिगत होता है।

वक्र वर्ण का संकल्प

राग रचना का दूसरा प्रमुख तत्व वर्ण हैं, संगीत में ध्वनि या स्वरों के एक जगह से दूसरी जगह पर जाने की क्रिया या प्रवाह को वर्ण कहते हैं। राग में स्वरों को गतिमान करने के लिए वर्ण एक वाहक व चालक की तरह काम करते हैं। जिस प्रकार स्वरों के बिना वर्णों का कोई आधार नहीं, उसी प्रकार वर्णों के बिना केवल स्वर राग के स्वरूप को स्पष्ट करने के असमर्थ हैं। स्वर एवं वर्ण राग में एक दूसरे के पूरक के रूप में काम करते हैं।

राग गायन में स्वरों की क्रमिक बढ़त, भिन्न–भिन्न प्रकार से स्वर लगाकर राग को सजाना, राग का स्वरूप बनाना, ज़्यादा–से–ज़्यादा सौंदर्यपूर्ण तरीके से राग को प्रस्तुत करना इत्यादि सभी वर्णों की सहायता से ही संभव है। वर्ण की व्याख्या डॉ. रेनु जैन इस प्रकार करते हैंः–

''संगीत में वर्ण का तात्पर्य ''वर्णयति इति वर्णः'' यानि (जो संगीत का) विस्तार करता है या जो (संगीत को) गति प्रदान करता है वह वर्ण है। संगीत में ध्वनि की एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की गति या क्रिया वर्ण है। यह पूरे संगीत में व्याप्त है। अतः वर्ण ध्वनि का संचलन है।''[6]

रेणु राजन के अनुसार

''वर्ण स्वरों के विविध प्रकार के प्रयोगों द्वारा राग में 'रंग' भरने का कार्य करता है। संगीत में 'वर्ण' स्वर को कहा जा सकता है परन्तु यहाँ वर्ण का एक पारिभाषिक अर्थ है, वह है स्वर–समूह का संभव रूप में वर्गीकरण, जैसे एक ही स्वर की पुनरावृत्ति करना, स्वरों का

आरोहात्मक व अवरोहात्मक स्वरूप अथवा इन सबका मिश्रण करना।''[7]

उपर्युक्त परिभाषाओं से वर्ण का अर्थ एवं 4 प्रकार के वर्ण दृष्टिगोचर होते हैंः– स्थाई, आरोही, अवरोही एवं संचारी

प्रत्येक राग में चारों वर्ण प्रयुक्त होते हैं। ध्यान देने योग्य है कि संचारी वर्ण अपने आप में एक वक्र वर्ण है। संचारी वर्ण में स्वरों का संचार हर दिशा में होता है। जहाँ आरोह व अवरोह को मिलाने के लिए स्वरों को घुमाया जाता है, वहाँ संचारी वर्ण गतिमान हो जाता है। यह रागों में विशेष स्थान रखता है, जो रागों के विशेष स्वरूप को बनाने में विशिष्ट भूमिका निभाता है और रागों में स्वरों के वक्र प्रयोग का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वक्र रागों के विस्तार में तो संचारी वर्ण की भूमिका विशेष रूप में नज़र आती है।

संचारी वर्ण का महत्त्व बताते हुए रेणु राजन लिखती हैं, ''एक ही स्वर की पुनरावृति (स्थायी वर्ण) भले ही वह अंश स्वर, ग्रह एवं न्यास स्वर ही क्यों न हो, राग का स्वरूप प्रकट नहीं कर सकती। उसी प्रकार केवल आरोही या अवरोही वर्ण राग के स्वरूप को बनाए रखने के लिए पर्याप्त नहीं होते। चारों वर्णों का सम्मिश्रण ही किसी भी राग की अभिव्यक्ति व सौन्दर्य का परिपोषण करने में सक्षम होता है।''[8]

स्थाई, आरोही, अवरोही तीनों वर्णों का मिश्रण संचारी वर्ण में होता है। इस प्रकार संचारी वर्ण का राग में विशिष्ट महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। चूंकि यह मिश्रित वर्ण है, इसलिए इसमें वक्रता की अधिक संभावनाएँ नज़र आती हैं। जैसे कि उपर्युक्त लिखा भी गया है कि संचारी वर्ण अपने आप में एक वक्र वर्ण है। इस संदर्भ में डॉ. के.जी. गिण्डे लिखते हैंः–

''रागों की परिभाषा से जो बोध मिलता है, वह है ध्वनिविशेषों का और उनके विन्यास का।... राग संकल्पना में इन ध्वनिविशेषों को चार प्रकारों से प्रवाहित किया जाता है। यानी एक ही स्वर का पुनरूच्चार करना, या स्वरों को आरोही गति से या अवरोही दिशा में प्रवाहित करना अथवा इन तीनों प्रवाहों को एक साथ लाना अर्थात् स्वरप्रवाह को वक्र गति देना।''[9]

इस प्रकार सिद्ध होता है कि संचारी वर्ण में स्वरों को वक्र गति में प्रयोग किया जाता है।

रागों के चलन में स्वरों की वक्रता

राग में स्वरों एवं वर्णों के आधार पर चलन का निर्माण होता है, जो राग रूपी संरचना को स्थापित करने में प्रमुख भूमिका निभाता है। प्रत्येक राग में स्वरों का एक विशिष्ट क्रम होता है, जिससे राग का चलन निर्धारित होता है। राग के चलन का अर्थ स्वरों को विशेष क्रम तथा विशेष रीत अनुसार राग में गतिमान करना है। इसमें राग के मुख्य स्वर, स्वर संगतियाँ, आरोह, अवरोह, पकड़, वादी, संवादी, न्यास इत्यादि की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

राग में चलन का विशेष महत्त्व है। हिन्दुस्तानी संगीत में बहुत से राग आपस में मिलते जुलते हैं। समान स्वर होते हुए भी चलन द्वारा रागों की विशिष्ट अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है। इससे राग में चलन का महत्त्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। राग के चलन के बारे में महेश नारायण सक्सेना इस तरह बताते हैंः

> ''राग गायन में आदि से अंत तक या राग के पूर्वांग से उत्तरांग तक, उसके थाट, स्वर, वादी, संवादी, विवादी, न्यास, उत्तरांग, पूर्वांग प्रधान्य, पकड़ इत्यादि के नियमों पर स्थिर होकर जो कई प्रकार के स्वर समूहों द्वारा विस्तार करने की क्रिया अर्थात् विधि होती है, उस विधि को उस राग का चलन कहते हैं।''[10]

राग के चलन द्वारा स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए कुछ स्वरों के वक्र प्रयोग की संभावना बनी रहती है, चूंकि सभी रागों का स्वरूप स्वरों के सीधे प्रयोग से स्पष्ट करना असंभव है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार की वक्रता बहुत से रागों में देखी जाती है परंतु उन सभी रागों को या स्वर संगतियों को हम वक्र स्वर संगतियाँ या वक्र राग नहीं कहते। ऐसी कुछ स्वर संगतियां जब राग विशेष में बार–बार प्रयुक्त की जाती हैं, जिनसे विशेष सौंदर्य उत्पन्न होता है, वह समय पाकर वक्र रूप धारण कर लेती है। बाद में राग के विशिष्ट नियमों में ऐसी वक्रता स्वाभाविक ही स्थापित हो जाती है। जैसे क्रमिक पुस्तक मालिका के पंचम भाग में राग रागेश्वरी के अवरोह ''सं नि॒ ध म ग रे स''[11] में 'म ग रे स' स्वर संगति का प्रयोग किया मिलता है। परंतु प्रचार में सौंदर्य की दृष्टि को मुख्य रख कर 'ग म रे स' की स्वर संगति का प्रयोग बार–बार देखने को मिलता है।

प्रदीप कुमार सेनगुप्ता के अनुसारः

''राग के स्वरूप के निर्माण का महत्वपूर्ण बिन्दु, राग के अंतर्गत स्वरों के निश्चित समूह के विशिष्ट प्रकार के क्रम एवं व्यवस्था के अनुसार राग में गतिमान होना है और इन स्वरों के आरोहात्मक अथवा अवरोहात्मक दोनों की विलक्षण तरतीब (चलन) में दो या ज़्यादा स्वरों का विशेष घुमाव (तकनीकी भाषा में पकड़) राग के विशेष पद की भावना या अभिव्यक्ति को दर्शाता है।''[12]

इस प्रकार राग के चलन में कुछ स्वरों का वक्र प्रयोग विशिष्ट भाव को व्यक्त करने के लिए लाज़मी हो जाता है। जैसे कि हम जानते हैं कि वक्र स्वर का प्रयोग जिस राग विशेष में होता है वह एक विशेष नियम में रह कर ही किया जाता है। इस प्रकार जब अधिक वक्र स्वरों का प्रयोग किसी राग विशेष में होता है, तो उस राग विशेष का संपूर्ण चलन ही वक्र कहलाने लगता है। कुछ रागों की उत्त्पति ही स्वरों के वक्र चलन के कारण हुई है, जिन्हें हम वक्र राग कहते हैं। ऐसे रागों की जाति भी वक्र श्रेणी में आती है।

वक्र जाति का संकल्प

इसके अंतर्गत ऐसे राग आते हैं, जिनमें स्वर वर्जित भी नहीं होते और सीधे प्रयोग भी नहीं किए जाते। ऐसे रागों को आधुनिक विद्वान एक अलग जाति भाव वक्र जाति के अंतर्गत रखने के पक्ष में हैं। इस संदर्भ में पं. गणेश प्रसाद शर्मा लिखते हैंः–

हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में एक नियम सर्व साधारण ऐसा मिलता है कि, कोई भी 'वक्र' आरोह, अवरोह सम्पूर्ण न होते हुए राग को 'सम्पूर्ण' कहने की गुणी जनों में रुढ़ी है, जैसे हमीर, कमोद, देस, जय, जयंवती वगैरा रांगों में देखो इसलिए ग्रंथकार के मत से ऐसे रागों को 'सम्पूर्ण' या केवल 'वक्रजाति' का कहना ही ठीक है।

''आधुनिक प्रगतिवादी युग में संगीतज्ञों को रागों की नौ जातियों के अतिरिक्त एक 'वक्र' नाम की जाति और मानना चाहिये। इससे जो राग वक्र होने के कारण निश्चित रूप से 9 जातियों में से किसी भी जाति के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते, उन्हें इस 'वक्र' नाम की जाति के अन्दर रखा जा सकता है।''[13]

इस पक्ष की पुष्टि करते हुए पं. बालाभाऊ उमडेकर 'कुण्डल गुरु' लिखते हैं: '' ''।[14]

यदि उपर्युक्त मतों पर विचार किया जाए तो काफी हद तक यह सही प्रतीत होते हैं, चूंकि आरोह या अवरोह करते समय स्वरों का विपरीत दिशा अथवा दशा में प्रयोग वक्र प्रयोग ही कहलाता है। ऐसे रागों को यदि वक्र जाति के राग कहा जाए तो कोई अति शयोक्ति न होगी। वैसे भी अधिकतर पुस्तकों में 'वक्र जाति' या 'वक्रसंपूर्ण' राग, जाति के संदर्भ में लिखे मिलते हैं तो इसकी वक्र जाति या 9 जातियों की मिश्रित जाति के रूप में अलग उपस्थिति मानना तर्क संगत प्रतीत होता है।

रागों में स्वरों की वक्रता में विभिन्नताएँ

रागों में स्वरों की वक्रता के भिन्न–भिन्न आधार या भिन्न–भिन्न पैमाने हैं। प्रत्येक राग के चलन के अनुसार स्वरों की वक्रता के भिन्न–भिन्न पैमाने दृष्टिगोचर होते हैं। रागों में स्वरों की वक्रता किस प्रकार और कितने किस्म की पाई जाती है, इस पर विचार करना अति अनिवार्य है। इस बारे में चर्चा इस प्रकार हैं:–

अस्थाई वक्रता एवं स्थाई वक्रता

जब किसी राग के स्वर वक्र न होने पर भी केवल राग विस्तार के समय, स्वरों की बढ़त के समय, विशिष्ट सौंदर्य उत्त्पन्न करने के लिए स्वरों को घुमाया जाता है भाव वक्र रूप में लिया जाता है, तो इस किस्म की वक्रता को अस्थाई वक्रता कहा जाता है। यहाँ राग वक्र नहीं होते। चूंकि इस प्रकार की वक्रता कुछ समय के लिए तो सौंदर्य उत्पन्न करती है परंतु प्रत्येक बार या बार–बार ऐसे वक्र स्वरों का प्रयोग नहीं किया जाता भाव प्रत्येक बार वही स्वर संगतियाँ प्रयुक्त नहीं होती। जैसे: – राग पूरिया कल्याण में 1) नि॒ रे॒ ग, रे॒ म ग 2) ग म रे॒ म ग 3) नि॒ ग रे॒ म ग 4) नि॒ रे॒ नि॒, रे॒ ग रे॒, म ग इत्यादि में 'गंधार' स्वर की भिन्न–भिन्न तरीकों से बढ़त के समय आई वक्रता दृष्टिगोचर होती है। स्थाई वक्रता के अंतर्गत स्वरों की ऐसी वक्रता आती है, जो पूर्ण रूप में स्थापित हो चुकी है। वह चाहे एक स्वर की वक्रता हो या ज़्यादा स्वरों की, जैसे – 1. राग गौड़ सारंग में :– 'स, ग रे म ग, प रे स' अथवा राग भटियार में : 'स ध ऽ ध प ऽ म, प ग, प ग रे॒ ऽ स'। इन रागों में स्वरों की वक्रता या वक्र चलन स्थापित हो चुका है।

अस्पष्ट वक्रता एवं स्पष्ट वक्रता

कुछ रागों में स्वरों की अस्पष्ट वक्रता देखने को मिलती है, जैसे– राग केदार में 'गंधार' स्वर का प्रयोग गुप्त रूप में और वक्र रूप में किया जाता है। इस संदर्भ में पं. रामाश्रय झा 'रामरंग' लिखते हैं:– ''मध्यम स्वर की एक विशेषता यह भी है कि गंधार स्वर जो इस राग में गुप्त रूप अर्थात स्पर्श रूप में प्रयोग होता है यथा स,म, म[ग] प इस प्रकार मध्यम स्वर गंधार को अणुलगन के रूप में अपने में समेटे रहता है।''[15]

इसी संदर्भ में पं. विनायक नारायण पटवर्धन लिखते हैं:– ''केदार में गंधार स्वर वर्जित है। तथापि मध्यम पर ठहर कर पंचम पर जाते हुवे 'म[ग]प' इस प्रकार गंधार स्वर का स्पर्श किया जाता है।''[16]

इस प्रकार के प्रयोग को अस्पष्ट वक्रता की श्रेणी में रखा जा सकता है।

स्वरों की वक्रता जिस राग में स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है उस को स्पष्ट वक्रता की श्रेणी में रखा जा सकता है, जैसे राग मल्हार में 'म [मß]रे प, [म]ग॒ ऽ [म]ग॒ म रे स' में स्वरों की वक्रता स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है।

स्वरों की वक्रता का अल्पत्व एवं बहुत्व

जहाँ किसी राग विशेष में एक व दो स्वर वक्र प्रयोग किए जाते हैं, वहाँ उन रागों में स्वरों की वक्रता का अल्पत्व कहा जा सकता है, जैसे – राग भैरव में 'ग 'म रे॒ ऽ रे॒ स' स्वर संगति में ही 'गंधार' का वक्र प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार उत्तरांग में 'ग म ध॒ ऽ ध॒ प' स्वरों में 'मध्यम' से 'पंचम' पर सीधा न आ कर 'धैवत' को लगाते हुए आया जाता है, वहाँ 'पंचम' का वक्रत्व नज़र आता है। इसी तरह

राग देस	–	'रे ग नि॒ स'
राग बागेश्वरी	–	'म प ध ग॒ ऽ'
राग शंकरा	–	'नि ध सं नि॒'
राग खमाज	–	'प ध म ग
राग आसावरी	–	ध॒ म प ग॒ इत्यादि

ऐसे कई राग हैं, जो एक या दो स्वर संगतियों के वक्र होने के कारण स्वरों की वक्रता की अल्प श्रेणी में रखे जा सकते हैं। इसी तरह वक्र रागांगो में भी स्वरों की वक्रता एक विशिष्ट अंग तक सीमित होने के कारण अल्प वक्रता के अंतर्गत रखे जा सकते हैं।

जब दो–तीन से अधिक स्वरों का वक्र प्रयोग रागों में मिलता है तो उनको अधिक वक्रता वाले रागों की श्रेणी में रखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में जिस राग में हर दूसरा स्वर या हर दूसरी स्वर संगति वक्र प्रयोग होती है तो उस राग विशेष में स्वरों की वक्रता का बहुत्व होने के कारण वक्र रागों की श्रेणी में रखा जा सकता है, उदाहरण के लिए: राग गोड़ सारंग, भटियार, नायकी कान्हड़ा, बिलासखानी तोड़ी, शुक्ल बिलावल इत्यादि सभी अधिक वक्रता वाले राग हैं।

रागों के सहज विकास दौरान उत्पन्न हुई वक्रता

कुछ रागों के सहज विकास दौरान प्रयुक्त किए जाते अलंकारिक स्वर स्पष्ट रूप धारण कर जाते हैं। ऐसे

रागों में इस प्रकार के स्वर विशेष की वक्रता सहज विकास दौरान उत्पन्न हुई वक्रता है, जैसे– राग बिलावल की स्वर संगति 'म ग म रे स' में 'ग म रे स' के प्रयोग में 'मध्यम' को कण रूप में केवल सौंदर्य वृद्धि के लिए लिया जाता था, जैसे– ग [म]रे स। धीरे–धीरे सहज विकास की प्रक्रिया में 'ग म रे स' में तब्दील हो गई और 'मध्यम' स्वर स्पष्ट रूप में प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार राग बागेश्वरी का स्वरूप संगीत–अर्चना पुस्तक में इस प्रकार दिया है:

''आरोह – स नि ध़ नि स, म ग, म ध नि सं।
अवरोह – सं नि ध, म ग, म ग रे स।
मुख्य अंग – स, नि ध़ स, म ध नि ध, म, ग रे, स''[17]

उपर्युक्त स्वरूप में 'पंचम' का प्रयोग कहीं भी नहीं दर्शाया गया। जबकि 'पंचम स्वर' के अल्प प्रयोग के बारे में जरूर चर्चा की है। इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी समय 'पंचम' का वक्र रूप में अल्प प्रयोग सौंदर्य की दृष्टि से किया जाता होगा जो राग के सहज विकास द्वारा अपना अस्तित्व धारण कर गया। ऐसी वक्रता और बहुत से रागों में भी पाई जाती है।

सुविधा के लिए आई वक्रता

कुछ रागों में स्वरों को लेने की सुविधा को मुख्य रख कर स्वरों को वक्र रूप दिया गया देखने को मिलता है। यहाँ कल्याण राग की उदाहरण दी जा सकती है। जैसे कल्याण का आरोह 'स रे ग म प ध नि सं' इस प्रकार जाना कुछ मुश्किल प्रतीत होता है, चूंकि 'षड़ज' का 'तीव्र मध्यम' से संवाद स्थापित नहीं होता, जितना 'निषाद' का होता है। इसलिए 'नि़ रे ग म प, म ध नि सं' आरोह में 'पंचम' को सीधा न लेकर वक्र रूप में लेना सुविधा के लिए आई वक्रता कही जा सकती है। पं. भातखंडे जी की क्रमिक पुस्तक मालिका के दूसरे भाग में ''स रे ग, म प, ध नि सं''[18] आरोहात्मक स्वर दिए गए हैं। प्रचार में आज नि़ रे ग व 'प' को वक्र करके ही लिया मिलता है।

परिकल्पना

हिन्दुस्तानी संगीत के रागों में स्वरों की विशिष्ट भूमिका है। रागों के चलन को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाए तो इसमें स्वरों की गति के भिन्न–भिन्न पक्ष सूक्षम तथा स्थूल रूप में दृष्टिगत होते हैं। इसी कारण राग का विस्तार लंबे समय के लिए करना संभव हो पाता है। इन पक्षों में स्वरों की वक्रता का पक्ष अति महत्त्व पूर्ण है, जो अध्ययन का प्रमुख विषय है।

शोध–पत्र का उद्देश्य

हिन्दुस्तानी संगीत के रागों के विशिष्ट चलन में स्वरों के वक्रत्व के विविध रूपों की भूमिका का अध्ययन करना।

खोज परिणाम

संचारी वर्ण की उपयुक्तता को देख कर यह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तानी संगीत के रागों के विस्तार एवं स्वरों की क्रमिक बढ़त के लिए स्वरों का वक्र प्रयोग अनिवार्य है।

शोध विधि

विश्लेषणात्मक विधि।

संसाधन

पूर्व प्रकाशित पुस्तकें एवं निगरान (Guide) 'डॉ. निवेदिता सिंह'से विचार–विमर्श द्वारा प्राप्त जानकारी।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि राग–निर्माण से लेकर राग–विस्तार तक स्वरों को वक्ररूप में प्रयुक्त करने का विधान हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में है। कही यह सुचेत रूप में तो कही अवचेतन दृष्टि से हो रहा है। राग गायन दौरान स्वरों का विस्तार आगे बढ़ता जाता है और पिछली स्वर संगतियाँ मिटतीं जाती हैं, पर कलाकार एवं श्रोताओं के मन में वह उकेरी रहतीं है तथा पिछली स्वर संगतियों के संदर्भ में अगली स्वर संगतियों की रचना होती है। राग सागर की स्वर लहरों के उतार–चड़ाव व घुमाव राग में स्वरों के सीधे अथवा वक्र क्रम का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त वक्र रागांग, वक्र आरोह, वक्र अवरोह, वक्र चलन अथवा वक्र जाति इत्यादि भी स्वरों की वक्रता के भिन्न–भिन्न पैमाने हैं।

अन्त टिप्पणी

1. *विमलाकान्त रायचौधुरी, राग व्याकरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृ. 6*
2. *वही, पृ. 6*
3. *"The Progession of notes has a definite structure exhibiting a specific balance, harmony and proportion of the notes thus used. In most of the cases there is some uniqueness in the treatment of the notes, either a single note or a combination of two or three notes together. This is in keeping with the mood or sentiment of the Raga which it tends to depict." Pradip Kumar Sengupta, Foundations of Indian Musicology (Perspectives in the Philosophy of Art and Culture). Abhinav Publications, New Delhi, 1991, p. 106.*
4. *महेश नारायण सक्सेना, संगीत शास्त्र, (भाग–1), पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, 1988, पृ. 19*
5. *अमल दाश शर्मा, संगीतायन, आर्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली, 1984, पृ. 74*
6. *डॉ. रेनु जैन, स्वर और राग, पारिभाषिक संज्ञाओं के परिप्रेक्ष्य में, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2006, पृ. 236*
7. *रेणू राजन, हिन्दुस्तानी संगीत में राग–लक्षण, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1996, पृ. 194*
8. *वही, पृ. 199*
9. *स्व. डॉ. के.जी. गिंडे (1925–1994) बंबई, रागरूप एवं राग–व्यवस्था, मुक्त संगीत–संवाद, डॉ. श्रीरंग संगोराम (संपा.), 'गानवर्धन' संस्था, पुणे, 1995, पृ. 133–134.*
10. *महेश नारायण सक्सेना, संगीत शास्त्र (भाग–2), पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, 1989, पृ. 43.*
11. *पं. विष्णु नारायण भातखंडे, हिन्दुस्तानी संगीत–पद्धति, क्रमिक पुस्तक मालिका, पाँचवी पुस्तक, संगीत कार्यालय हाथरस, 1974, पृ. 296.*
12. *"The important Point in constructing a Raga structure seems to be the selection of the*

component notes and their unique order of sequence both in the ascending and the descending process (Chalan) together with a specific twist (technically called Pakad) with regard to a particular phrase consisting of two or more notes according to the needs of the specific sentiment or mood." Pradip Kumar Sengupta, Foundations of Indian Musicology (Perspectives in the Philosophy of Art and Culture), p. 108.

13. *पं. गणेश प्रसाद शर्मा, राग प्रवीण, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 2011, पृ. 68–69.*
14. *पं. बालाभाऊ उमडेकर, 'कुण्डलगुरु', राग सुमन माला, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1989, पृ. 114.*
15. *पं. रामाश्रय झा 'रामरंग', अभिनव गीतांजलि, भाग पाँच, संगीत सदन प्रकाशन, तृतीय संस्करण, 2012, पृ. 160–161.*
16. *डॉ. पं. विनायक नारायण पटवर्धन, राग–विज्ञान, द्वितीय भाग, संगीत गौरव ग्रंथमाला, सातवीं आवृति, 1961, पृ. 20*
17. *डॉ. विश्वम्भरनाथ भट्ट, संगीत–अर्चना, (तान–आलाप), संगीत कार्यालय, हाथरस, सातवाँ संस्करण, 1980, पृ. 225.*
18. *स्व. पं. विष्णु नारायण भातखण्डे, हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति, क्रमिक पुस्तक मालिका, दूसरी पुस्तक, रमाबाई दत्तात्रय भातखण्डे, बम्बई, 1952, पृ. 30*